कहानी

नचदेखवा

महेन्द्र तिवारी

दोपहर को खबर उड़ी कि पास के गाँव में बहुत बड़ी नाच पार्टी आ रही है. यह समाचार सुनते ही हमारी लालसा जैसे सीने से उछलकर बाहर आने लगी. हमारी मंडली में पाँच-छः सक्रिय लड़के थे. उनमें से किसी को भी अगर किसी नाच की जानकारी होती तो वह बात सबको खबर कर दी जाती थी.

बिजली, तारा, चाँद-सितारा, चम्पा बाई-ये सिर्फ नाम नहीं, बल्कि उस दौर के युवाओं के दिलों की धड़कनें होती थीं. ऐसा नहीं कि नाच में सिर्फ वेश्याओं का ही कब्ज़ा था, बल्कि लौंडा भी अपनी धाक जमाये हुए थे. ये वो छरहरे, सुंदर नौजवान युवक होते थे, जो स्त्री-वेश धारण कर जब मंच पर आते, तो उनकी कमनीयता देखकर असली स्त्रियाँ भी ईर्ष्या कर बैठें. उनके नाच में एक अलग ही ऊर्जा होती थी. वे जब उछलकर और अपनी कमर को विशेष लय में लहराकर नाचते थे, तो शामियाने में बैठी भीड़ 'वाह-वाह' कर उठती थी.

खेत से घर आते ही मुलन भैया ने यह खबर सबको दी. 'चलो, आज पसउर चलते हैं. बिजली रानी आ रही है.'

घरवालों की नज़रों से बचते-बचाते हमने अपनी रणनीति बनाई. जैसे ही गाँव के आखिरी मकान से लालटेन की लौ बुझी और कोठरी में बुझे हुए चिरागों का धुआँ बाहर आया, हम अपने कंबल सिरहाने छोड़कर चोरों की तरह दरवाजे के बाहर निकल गए. गाँव के चौरे पर लगे विशाल बरगद के नीचे हम सब जमा होने लग गए. हवा में पत्तियों का हिलना भी किसी साजिश का हिस्सा लगता था. रामाशंकर अपने हाथ में लम्बी वाली टॉर्च लिए था जिसमें डोरी लगी हुई थी. यह वही टॉर्च था जो उसके चाचा ने उसे पिछले हफ्ते खेत से सियार भगाने के लिए दी थी. गुड्डू ने लाठी थाम रखी थी और मैं सबके पीछे-पीछे चल रहा था.

हम पगडंडी पकड़कर पसउर की ओर चल पड़े. रास्ते के दोनों ओर अरहर के खेत जैसे रात में भी किसी रहस्य की रखवाली कर रहे हों. कभी दूर कहीं सियार की हुआँ-हुआँ सुनाई देती थी, तो कभी किसी अनदेखे पंख का फड़फड़ाना हमारी धड़कनों को बढ़ा देता था. लेकिन नाच का लत ऐसा था कि डर भी लाचार हो जाए. जैसे-तैसे हम पसउर की सीमा के करीब पहुँच गए थे. दूर से ही पेट्रोमैक्स और हैलोजन की दूधिया रोशनी से नहाया हुआ शामियाना दिखाई देने लगा था. लाउडस्पीकर से नाच के शुरू होने की आवाज़ हमारे कानों तक पहुँच रही थी. हमारे कदमों की रफ्तार बढ़ गई थी. उत्साह अपने चरम पर था. बस कुछ मिनटों की दूरी और फिर हम उस मनोरंजक क्षण का आनंद लेने वाले थे.

जैसे ही हम गाँव के बाहरी छोर पर पहुँचे, अचानक संगीत की आवाज दब गई और उसकी जगह कोलाहल ने ले ली. 'चोर-डकैत....पकड़ो....मारो.', ये आवाजें रात के सन्नाटे को चीरती हुई गूंज उठी.

हम कुछ समझ पाते, उससे पहले ही हमने देखा कि गाँव की गलियों से लोग चीखते-चिल्लाते हमारी तरफ भागे आ रहे हैं. आगे चोर-डकैत और उनके पीछे लाठी-भाला लिए गांव वालों का हुजूम. अफरातफरी मच गई. जो लोग नाच देखने जा रहे थे, वे भी उल्टे पांव भागने लगे. स्थिति बड़ी विकट थी. अगर हम वहीं खड़े रहते, तो दो खतरे थे, या तो डकैतों की गोली का शिकार बनते या फिर जोश में आए गांव वालों के हत्थे चढ़ जाते, जो अंधेरे में हमें भी डकैतों का साथी समझकर पीट देते.

'भागो!' सुशील ने आवाज लगाई. हम दिशा-विशा भूलकर, जान हथेली पर रखकर भागे. सामने अरहर का एक लहलहाता खेत दिख रहा था. अरहर की फसल इंसान के कद से ऊंचे हो गए थे. बिना एक पल गंवाए, हम उस खेत में घुस गए.

हम खेत के बीचो-बीच जाकर बैठ गए. सांसें लोहार की धौंकनी की तरह चल रही थीं. दिल की धड़कन इतनी तेज थी कि लग रहा था वह पसलियां तोड़कर बाहर आ जाएंगी. बाहर से गांव वालों की ललकार और भागते हुए कदमों की धमक सुनाई दे रही थी. हम एक-दूसरे का हाथ पकड़े, दुबके हुए थे. वह अरहर का खेत उस रात हमारे लिए किसी किले से कम नहीं था. उसकी ओट ने हमें गांव वालों की नजरों और डकैतों की गोलियों, दोनों से बचा लिया था. करीब बीस मिनट तक हम वहीं साँसें रोके छुपे रहे. जब शोरगुल थोड़ा कम हुआ और लगा कि गांव वालों का जत्था दूसरी दिशा में निकल गया है, तो हमने वहां से निकलने की हिम्मत जुटाई.

अब हमने खेत से बाहर निकलकर एक कच्चा रास्ता पकड़ ली थी, जो आम के एक बागीचे से होकर गुजरता था. यह बागीचा दिन में भी डरावना लगता था और रात में तो इसकी भयावहता और बढ़ जाती थी. घने पेड़ों के साये में अंधेरा इतना गहरा था कि टॉर्च की रोशनी भी कुछ ही फीट तक जा पा रही थी. हम दबे पांव आगे बढ़ रहे थे. बगीचे के बीच में पहुँचते ही, अचानक एक आवाज ने हमारे कदम रोक दिए. खनक... खन-खन...यह बर्तनों के टकराने की आवाज थी. हवा एकदम बंद थी, इसलिए आवाज साफ सुनाई दे रही थी. हम चौंक गए. इतनी रात गए इस वीरान में बर्तन की आवाज कैसे आ रही है? मेरे एक साथी ने इशारे से रुकने को कहा. हमने एक पेड़ की आड़ ली और ध्यान से सुनने की कोशिश की. बर्तनों की खनक के साथ-साथ कुछ फुसफुसाने की आवाजें भी आ रही थीं. 'यह वाला लोटा मेरा... और यह थाली तुम रख लो...' चोरों में से किसी ने धीरे से कहा.

हमारी घिग्घी बंध गई थी. हमें समझते देर नहीं लगी कि ये वही डकैत हैं, जो गाँव में डाका डालकर भागे थे. वे यहाँ इस सुनसान बागीचे में चोरी किये हुए पीतल और कांस्य के बर्तन, गहने और कपड़ों का बंटवारा कर रहे थे. यह अहसास होते ही हमारे पसीने छूट गए. अगर उनकी नजर हम पर पड़ जाती, तो शायद हमारी लाशें भी सुबह तक न मिलतीं.

हमें तुरंत फैसला लेना था. आगे बढ़ना खतरे से खाली नहीं था क्योंकि सूखी पत्तियों की चरमराहट उन्हें सतर्क कर सकती थी. हमने बेहद सावधानी से अपने रास्ते को बदल दिया था. हमें बागीचे के बीच से होते हुए अब बाहर आना था ताकि हम उन डकैतों की जद से दूर निकल सकें. वह दस मिनट का रास्ता हमें घंटों जैसा लगा. जब हम बागीचे की दूसरी ओर चौड़ी मेड़ पर आ गए, तब जाकर हमारी जान में जान आई. अब हमारे सामने दो रास्ते थे, या तो घर वापस लौट जाएं या फिर नाच देखने चलें. नचदेखवा का दिल इतनी आसानी से हार नहीं मान रहा था. 'इतनी मुसीबत झेल ली, अब तो नाच देखकर ही जाएंगे,' सबने एकमत से फैसला लिया.

वैसे भी, घर लौटने का रास्ता उसी बागीचे से होकर जाता था, जहाँ डकैत बैठे थे. आगे बढ़ना ही हमारी समझदारी थी. रात के नौ बजने वाले थे. लम्बा चक्कर लगाने के बाद आखिरकार हम अब पसउर के उस शामियाने में दाखिल हो गए थे. वहां पहुँचते ही जैसे सारी थकान काफूर हो गई. माहौल पूरी तरह बदल चुका था. यहाँ किसी को डकैती की खबर तक नहीं थी या लोग उसे नजरअंदाज कर अपनी दुनिया में ही मग्न थे.

शामियाने के अंदर का दृश्य जादुई था. बीड़ी और सिगरेट का धुआं हवा में तैर रहा था, जो पेट्रोमैक्स की रोशनी में अगरबत्ती के धुएं जैसा लग रहा था. मंच पर एक 'लौंडा' नीली साड़ी पहने, बालों में गजरा लगाए, 'झुमका गिरा रे बरेली के बाजार में' गाने पर थिरक रहा था. उसकी अदाएं, उसका मटकना और आँखों से इशारा करना सब कुछ सम्मोहित करने वाला था. हम भीड़ को चीरते हुए एक कोने में जगह बनाकर बैठ गए. हमारा पसंदीदा गाना चल रहा था और हम उस धुन में खोने लगे थे. अब बिजली रानी की बारी थी. लोग उसका बेसब्री से इंतज़ार कर रहे थे. लाल किनारी वाली पीली साड़ी में वह मंच पर आ चुकी थी. भीड़ मंत्रमुग्ध थी. बिजली रानी के ठुमके गज़ब ढा रहे थे. जब बिजली रानी ने लचका सुनाया तो लोगों की सीटियाँ बजने लगीं.

लेकिन, यह रात हमारी परीक्षा लेने पर ही तुली हुई थी. अभी हमने नाच का आनंद लेना शुरू ही किया था कि मेरी नजर मंच के पास बैठे लड़कों के एक झुंड पर पड़ी. वे जोर-जोर से सीटी बजा रहे थे. रोशनी जब उनके चेहरों पर पड़ी, तो मेरा माथा ठनका. ये वही लड़के थे, जिनसे हमारी दस दिन पहले चरपोखरी बाजार पर जबरदस्त मारपीट हुई थी. हमने उन्हें खदेड़-खदेड़ कर पीटा था. आज वे अपने इलाके में थे, अपने गाँव में. उनमें से एक ने हमें पहचान लिया था. उसने अपनी बगल में बैठे साथी को कोहनी मारी और हमारी तरफ इशारा किया. धीरे-धीरे उनकी पूरी टोली का ध्यान नाच से हटकर हमारी तरफ हो गया. उनकी आँखों में प्रतिशोध की ज्वाला साफ दिख रही थी. वे आपस में कानाफूसी करने लगे और कुछ लोग अपनी जगह से उठने भी लगे. संगीत का शोर अब भी तेज था, लेकिन हमारे कानों में खतरे की घंटी बज चुकी थी. 'निकल लो, वरना आज खैर नहीं,' मेरे साथी ने कान में फुसफुसाया.

वहाँ रुकना अब शेर के मांद में हाथ झाँकने जैसा था. वे संख्या में हमसे ज्यादा थे और यह उनका इलाका भी था. अगर लड़ाई होती, तो न तो हम नाच देख पाते और न ही सही सलामत घर लौट पाते. मन मसोस कर रह जाना पड़ा. इतना जोखिम उठाया, डकैतों से बचे, कांटों पर चले और अब मंजिल पाकर भी अनहोनी की आशंका दिख रही थी.

हमने धीरे से, बिना किसी का ध्यान खींचे, शामियाने के पिछले हिस्से में खिसकना शुरू किया. नर्तकी के घुंघरू अब भी छनक रहे थे, लेकिन वे हमें बुला नहीं रहे थे, बल्कि चेतावनी दे रहे थे. हम बाहर अंधेरे में आ गए.

'अब क्या करें?' सुशील ने काँपते हुए पूछा.

मैंने दूर चमचमाती हुई ट्यूब लाइट की रोशनी की ओर इशारा किया. 'सुनाहै, आज चरपोखरी में भी नाच आया है, वहां तारा रानी आई है.'

नचदेखवा मंडली की आत्मा फिर से जाग उठी. सबकी आँखों में फिर से वही चमक लौट आई. पुरानी थकान, डकैतों का डर और दुश्मनों की रंजिश सब एक पल में भुला दी गई. रात के ग्यारह बजने वाले थे. वापसी के रास्ते पर चाँद धीरे-धीरे बादलों से निकलकर आकाश में चढ़ आया था. अरहर के खेत झूम रहे थे मानो हमें पहचानकर मुस्कुरा रहे हों. अब हम दूसरे शामियाने की ओर बढ़ रहे थे.

पुस्तक चर्चा

सबसे त्रासद और खतरनाक बातों का संकेत करती कविताएं

मनीष वैद्य

'आलू पैदा तो खेत में होता है/ मगर फलता-फूलता/ आढ़तियों के गोदाम में है/ यह है विकास का असली मॉडल/ जिसे पूरे देश में लागू होना है/ देखते जाइए/ अभी हर चीज़ को आलू होना है.'

इस कविता में बड़ी साधारण-सी बात किस तरह कविता में आकर बड़े फलक का असाधारण अर्थ देने लगती है, वह देखने लायक है. आलू किसान अपने खेतों में पैदा करते हैं और फसल आने पर दलालों को औने-पौने दामों में बेच देते हैं. बाद में यही दलाल किसानों से लेकर अपने गोदामों में जमा आलू की कीमतें इस तरह बढ़ाते रहते हैं कि घर बैठे-बैठे करोड़ों का मुनाफ़ा कमाकर देखते ही देखते धन्ना सेठ हो जाते हैं, जबकि किसान वहीं का वहीं रह जाता है. उसे इस मुनाफे से कोई फायदा नहीं होता. पहले यह आलू जैसी कुछ चीज़ों के साथ ही था पर अब कई और दूसरी सामग्रियों को भी दलालों के हाथों तेज़ी से दिया जा रहा है. यहाँ तक कि देश के प्राकृतिक संसाधनों को भी इन दलालों को सौंपा जा रहा है. कवि इस छोटी-सी कविता में अपने समय की इस सबसे त्रासद और खतरनाक बात का संकेत कर रहा है.

आज के समय को इस तरह देखने-समझने वाले कवि संजीव कौशल का इधर नया कविता संग्रह 'फूल तारों के डाकिए हैं' लोकभारती प्रकाशन से आया है. इसकी छोटी-बड़ी सवा सौ कविताओं से गुज़रते हुए पाठक अपने समय और समाज की परछाइयाँ देख पाता है. संजीव की संवेदनशील कवि दृष्टि इनके ज़रिए हमारे भीतर एक ख़ास तरह का अवसाद और प्रतिरोध रचती है. उनकी एक कविता की पंक्तियाँ देखिए-'एक लाख से पाँच लाख की कमाई कैसे होती है/ और पचास लाख/ ठिठक कर एक लाख में कैसे बधिया हो जाता है/ बाज़ार का यह गणित/ किसान कभी नहीं समझ पाता.' यह हमें बताती है कि पाँच बीघा ज़मीन पचास लाख में बिक सकती है पर किसान उसे तमाम त्रासदियों के बावजूद नहीं बेचता है. लेकिन एक व्यापारी लाख रूपए की पूँजी से कुछ ही महीनों में पाँच लाख का माल बना लेता है. इस संग्रह की शीर्षक कविता ' फूल तारों के डाकिए हैं' में हमारे शहरी जीवन की एक बड़ी सुंदर बात कहते हैं कि उनके पड़ोसी से उनका कोई सरोकार नहीं है, दुआ-सलाम तक नहीं लेकिन पड़ोसी के दरवाज़े पर लगे बौराए हरसिंगार की महक उनकी छत ही नहीं नाक तक पहुँचती है. सुबह-सवेरे तारों की तरह उससे फूल झड़ते हैं. वे लिखते हैं- 'फूल तारों के डाकिए हैं/ फूलों के रस्ते/ तारे धरती को पैगाम भेजते हैं./ मगर हमें पढ़ना नहीं आता/ तारों की भाषा हम बचपन में ही भूल चुके/ अब इंसानों की भाषा भूल रहे हैं./ कितना अजीब है/ पड़ोसी से नहीं/ उसके पेड़ से मेरी बोलचाल है.'

एक और बेहद सुंदर कविता वे स्त्री की तरफ़ से कहते हैं, जब उसे सुबह-सुबह सैर करने के लिए कहते हुए इसके फायदे गिनाए जाते हैं तो वह बड़ी ख़ूबसूरत बात कहती है- 'चार बजे उठती हूँ/ मगर काम नहीं निबटते/ घर घेरे रहता है/ हिलने ही नहीं देता/ घर को सैर पर भेज दो/ मैं भी चली जाऊँगी.' स्त्रियों की दशा और दिशा पर उनकी कई कविताएँ हैं लेकिन सब मुकम्मल बात कहती हुई. यहाँ नारों का विमर्श नहीं है, रोजमर्रा के जीवन से उठाए हुए धड़कते हुए टुकड़े हैं. इसलिए ये पंक्तियाँ कविता को जीवंत कर देती हैं. लगता है कि हम कविता को नहीं अपने समय को गुनगुनाते हुए सुन पा रहे हैं, देख पा रहे हैं समाज की परतों के पीछे से झाँकती विडम्बनाओं को.

दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाने वाले संजीव कौशल का कवि कर्म काफ़ी विस्तारित है. हिन्दी कविताओं को रचने के साथ वे जर्मन कविताओं का हिन्दी में अनुवाद करते हैं तो प्रतिष्ठित कवि नरेश सक्सेना की हिन्दी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद भी. हिन्दी के उम्दा साहित्य के साथ वे विश्व साहित्य भी ख़ूब पढ़ते हैं. यही कारण है कि उनकी कविता दृष्टि का फलक बहुत बड़ा है. उसमें लोकेल को ग्लोबल की तरह कह पाने की कूबत है. वे सिर्फ दृश्य नहीं रचते, उसके पीछे की उन तमाम स्थितियों, इतिहास, संस्कृति और लोक की बारीक डिटेल्स को भी पकड़ते हैं. उनके कवि कर्म के बारे में प्रतिष्ठित लेखक इब्बार रब्बी सही कहते हैं-'उनकी कविताओं में पूरी गृहस्थी है. परिवार, माँ और लड़कियाँ और स्त्री का पूरा जीवन है. घर छीन लेता है स्त्री की छुट्टियाँ. वह शाश्वत मज़दूर है. जीवन भर खटती है, मगर पेट बूढ़ा नहीं होता. ख़राब हुए नल से टपकती बूँदों को चिड़िया पीती है, नल ठीक होता तो चिड़िया प्यासी रहती.

निष्कर्ष यह कि चीज़ों का ख़राब होना उनका ज़िंदा होना है. इसकी छोटी कविताएँ दोहों की तरह मारक है. मानवीय गरिमा और कलात्मक ताज़गी से भरपूर है यह संकलन.'

फूल तारों के डाकिए हैं-
(कविता संग्रह)
संजीव कौशल
पहला संस्करण -2025
लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज
मूल्य 250 रुपए (पेपरबैक)

लघुकथाएं

रंगों के बहाने

होली समरसता का त्योहार है. प्रेम और धार्मिक सौहार्द को यह त्योहार बढ़ाता है.-

'मम्मी! ओ मम्मी! आगे क्या लिखूँ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है?

अपनी नोटबुक पर निबंध लिखते हुए विवेक अधीरता से बोला, ''आज ही यह होली पर निबंध पूरा करके ऑनलाइन एक कम्पीटीशन में भेजना है, पाँचवी कक्षा में पढ़ने वाला विवेक, अपनी माँ से जिद करके पूछ रहा था.

अपने काम में लगी माँ से, जब यह सवाल विवेक ने किया, तो उसको जैसे शॉक सा लगा. बदरंग यादों के दरीचें पर्त-दर-पर्त खुलते चले गये.

तब उसकी शादी का वह चौथा साल लगा था. उस दिन, होली का दिन था. पति कहीं काम से गये थे. सास भी कहीं गईं थीं. दो साल का विवेक अपने खेल में मस्त था. घर के काम में वह व्यस्त थी, तभी घर की कुंडी बजी. खिड़की से झांका तो रंग गुलाल से सराबोर उसके दूर के, रिश्ते के तीन देवर नमूदार हुए.. . हा.. हा.. हा.. भाभी दरवाजा खोलो.... अनुनय-विनय शुरू की...नहीं नहीं तुम्हारे भैया हैं नहीं हैं? फिर आना कभी? अरे! अरे! आप तो खामखा नाराज हो रहीं हैं. होली है, इतनी दूर से आएं हैं हम. भला आप के पैर छूए बगैर कैसे चले जाएँगे....नहीं नहीं फिर आना कभी? घर में अभी कोई नहीं है.... आप की कसम रंग बिलकुल नहीं लगाएंगे हम..बच्चों सा गिड़गिड़ाने लगे वे.

स्त्री हृदय पिघल गया. दरवाजा खोला, चट-पट हुरियारे अंदर आ गये. हा हा हा... नहीं नहीं, देखो मैंने पहले मना किया था, रंग न लगाना, देखो रंग न लगाना बाकी सब ठीक है.. हमसे बुरा कोई न होगा.. झीनाझपटी-धींगामुश्ती शुरू हुई.. फिर एक ने दोनों हाथ पकड़े, एक ने पैर, गिरा दिया एक कमजोर चिड़िया को. फिर फिर रंग रंग रंग... वह गिगिड़ाती रही, तड़पती रही, पैर छूने वाले, आशीर्वाद माँगने वाले, देवर अपनी भाभी के जिस्म के हर हिस्से की जबरदस्ती पैमाइश कर रहे थे. बहाना था रंग रंग रंग होली...होली... होली...

''मम्मी! ओ मम्मी! कसके विवेक ने झिझोड़ा तो उसकी तंद्रा भंग हुई. यादों की गहरी चुभन टीस लिए वह बोली-लिखो इस समरता के त्योहार को कुछ लुच्चे लफंगे गंदा कर देते हैं. कुछ आवारा शोहदों ने इसे बिलकुल्ल घिनौना बना दिया है...इसलिए महिलाओं को होली में हुड़दंगियों से बचना चाहिए..

विवेक निबंध पूरा करते हुए एक बारगी कनखियों से माँ को देखा. उनकी आँखों में जल की एक महीन रेखा न जाने क्यों उभरती चली आ रही थी, जिसे वह समझ पाने में अक्षम था.

सुरेश सौरभ

मां की सीख

खूबसूरत सुबह का नजारा था, पर सरला पार्क में उदास बैठी थी, उसके चेहरे पर गझिन-गझिन सिलवाटें थीं, तभी उसकी सखी सीमा ने पूछा-'क्या हुआ, क्यों उदास बैठी हो इतना?

सरला-'कुछ नहीं ?'

सीमा-'कुछ तो है.'

सरला-'दरअसल कल होली में बेटे ने पड़ोस में कुछ लोगों से थोड़ा पंगा कर दिया था. बड़ी मुश्किल में फैसला हो पाया. क्या तेरे बेटे भी होली में किसी से पंगा-वंगा करते हैं.'

सीमा-'नहीं.'

सरला-'क्यों?.'

सीमा-'मेरी मां बचपन में हम भाई-बहनों को समझाया करती थीं कि होली में जबरदस्ती किसी को रंग नहीं लगाना है, न जबरदस्ती किसी के घर में घुसकर या दौड़ा कर रंग गुलाल पोतना है. प्रेम से, सद्भाव से, जो रंग लगवा ले उसी के ही रंग गुलाल लगाना. मैं भी हमेशा यही अपने बच्चों को समझती रहती हूं, फिलहाल आज तक मेरे बच्चों का किसी से पंगा नहीं हुआ.'

सरला ने लंबी उबांसी ली बोली-'काश मेरी माँ भी...'

संपादकीय बोर्ड प्रबंध संपादक : सुमीत माहेश्वरी, समूह संपादक : क्रांति चतुर्वेदी

क्लास by बड़े भाई

याद रखिये, आप पहले नही हो...

संदीप द्विवेदी
कवि/प्रेरक वक्ता/स्किल ट्रेनर

छोटे भाई, सोशल मीडिया पे एक विडियो वायरल हो रहा है जिसमे एक बन्दर का बच्चा, जिसको उसकी माँ अपने पास नहीं आने देती, वो कई बार कोशिश करता है. फिर वो थोड़ी दूर पड़े एक तोय के गले लग जाता है. उसी में अपना सुकूं ढूंढ़ लेता है. दिल को भीतर तक छूने वाला यह विडियो मेरी दृष्टि में एक बड़ी सीख सहेजता है और वह सीख यह है कि आपको अकेले रहना सीखना ही होगा क्योंकि कभी न कभी किसी मोड़ पर यह दृश्य आपको भी जीना पड़ेगा. आप यह दृश्य देखने वाले नही बल्कि इस दृश्य के चरित्र हो सकते हैं. जीवन इसी तरह है छोटे भाई . कुछ भी आपके अलावा आपके पास हमेशा के लिए हो यह जरूरी नही है. यह अकेलापन कई बार भीड़ में महसूस होगा जब कोई सपने अधूरे रह जायेंगे, यह अकेलापन तब हो सकता है जब आपकी किसी से उम्मीदों पर उसी से पानी फिरता देखेंगे. जब आप किसी बड़े स्नेही को अपने लिए बदलते देखेंगे, यह अकेलापन कभी भी हो सकता है. और इसका विजेता वही हो सकता है जो यह समझेगा यह एक जीवन का हिस्सा है. यह भी हो सकता है. एक हरा-भरा खेत कभी उजड़ भी सकता है. जीवन कि कहानी आपकी डायरी पर आपके मन से बुनी सुन्दर घटनाओं का हिस्सा नही, यहाँ कहानी आपकी सोच से उलट भी हो सकती है और आपको सामना करना पड़ेगा. आपको यह खालीपन, बिखरने का दुःख झेलना पड़ेगा.

छोटे भाई कहना यह चाहता हूँ कि तैयार रहना उस बन्दर के छोटे से बच्चे की तरह.. रोने मत बैठ जाना.. किसी घटना को अधिक बड़ा न बनाना याद रखना इस दुनिया में सब कुछ हो सकता है, अधिक आश्चर्य मत करना. तैयार रहना हमेशा सहने के लिए भीड़ में अकेलापन तभी यह अकेलापन तुम्हारे लिए बेहतर रास्ता खोजेगा बिलकुल नयी दुनिया , नया संसार. धन्यवाद.

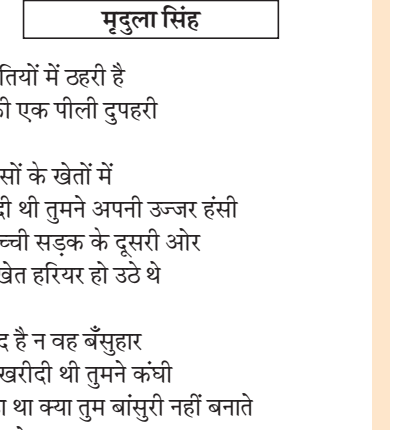

कविता

एक पीली दुपहरी वसंत की

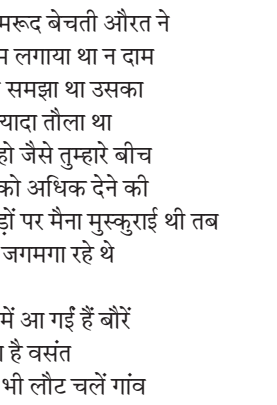

मृदुला सिंह

मेरी स्मृतियों में ठहरी है
वसंत की एक पीली दुपहरी

जब सरसों के खेतों में
बिखेर दी थी तुमने अपनी उज्जर हंसी
और कच्ची सड़क के दूसरी ओर
गेंहूँ के खेत हरियर हो उठे थे

तुम्हे याद है न वह बँसुहार
जिससे खरीदी थी तुमने कंघी
मैने कहा था क्या तुम बांसुरी नहीं बनाते
वह हैरान देखता रह गया था
जमीन पर सजी अपनी दुकान

रास्ते मे अमरूद बेचती औरत ने
कितना कम लगाया था न दाम
तुमने मूल्य समझा था उसका
उसने भी ज्यादा तौला था
होड़ लगी हो जैसे तुम्हारे बीच
एक दूसरे को अधिक देने की
सरई के पेड़ों पर मैना मुस्कुराई थी तब
और पुटुस जगमगा रहे थे

अमराइयों में आ गईं हैं बौरें
उमग आया है वसंत
आओ हम भी लौट चलें गांव

कि बंजर होती दुनिया मे
पीली हंसी और हरियर प्रेम
उपजता रहे
बनी रहे मन की नमी और प्रकृति का कच्चा रंग